

दलित जीवन पर हिंदी साहित्य का प्रभाव : भारत के विशेष संदर्भ में

Meena Verma

Assistant professor Hindi
Government college Kelwara (Baran)

सारांश

दलितों को लेकर हमारी राजनीति हमेशा ही गर्म रहती है। मगर उनके जीवन स्तर में कितना बदलाव आया है। ये प्रश्न खुद में एक प्रश्न बन कर रह गया है। आज भी दलित वर्ग का एक भाग शोषित ही है। वक्त बदला, लोग साक्षर हुए, मगर मानसिकता में कोई खास परिवर्तन नहीं हुए हैं। समाज का रवैया आज भी दलितों के प्रति बदला नहीं है। आज भी उन्हें छुआछूत का शिकार होना पड़ रहा है। आज भी कई जगह मंदिरों में उनका प्रवेश वर्जित है। कहने को तो हमारा देश बदल रहा है, साक्षरता दर बढ़ रही है, लेकिन हम ये कब समझेंगे कि वो भी हमारे समाज का भाग है जिनके बिना हम अधूरे हैं हमारी विचारधारा कब बदलेगी हम इंसान को इंसान के रूप में कब देखना शुरू करेंगे कब तक जाति, धर्म का प्रपंच चलता रहेगा। चाहे आरक्षण हो या सरकारी अधिनियम, आज तक कोई भी सरकार कोई भी कानून इन दलितों का पूर्ण अधिकार जो संविधान में लिखित है पूर्ण नहीं कर पाया है। सवाल यह है आखिर कब तक ऐसा चलता रहेगा। ऐसा नहीं है कि कुछ बदला नहीं है, मगर रफ्तार बहुत धीमी है। प्रस्तुत अंश में दलितों को सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से देखने की कोशिश की गयी है।

मूल शब्द: दलित, दलित साहित्य, निम्न वर्ग

1. प्रस्तावना

समकालीन भारत में आज भी आबादी का एक बड़ा तबका बुनियादी सुविधाओं से वंचित है मगर हर चुनाव का मुद्दा जरूर बनता है, जिसे हम कभी गरीब, कभी दलित, तो कभी पिछड़ा वर्ग तो कभी कुछ और कहते हैं। आजाद भारत के 72 साल बाद भी उनको समाजिक स्थिति में कोई बड़ा बदलाव नहीं आया है। आज भी दलित आजाद भारत का एक शोषित वर्ग ही है और आज भी उनका शोषण जारी है। वर्तमान समय में भी दलित कमोबेश मीडिया के सुर्खियों का अभिन्न अंग है। समयानुसार दलितों को अलग-अलग परिभाषा परिलक्षित की गयी है। रामचंद्र वर्मा के हिंदी मानक कोश के अनुसार दलित समाज का निम्नतम वर्ग है जो उच्च वर्ग के लोगों के द्वारा सताया गया है और जिनकी आर्थिक स्थिति बेहद खराब है। किसी भी काल में चाहे राजनैतिक व्यवस्था या सामाजिक स्थिति जैसी भी हो, निम्न वर्ग ही दलित कहलाया है और इस वर्ग की आर्थिक स्थिति सदा ही बेहद नाजुक रही है। इसलिए दलित की जब भी कहीं भी कोई चर्चा होती है तो इसमें किसान, मजदूर दास, आदि जैसे वर्गों का ही जिक्र होता है। आजाद भारत के पहले और बाद में भी समाज में दलित शब्द और दलित वर्ग मौजूद है। स्वतंत्रतापूर्व और स्वतंत्रोत्तर काल की कविता, कहानी या किसी भी प्रकार के गद्य में इसका वर्णन मिलता रहता है।

आजादी से पहले, समाज के कुछ निचले वर्गों को अछूत माना जाता था। इन अछूतों को महात्मा गांधी ने हरिजन का नाम दिया। भारत सरकार अधिनियम 1935, जिसे हरिजन एक्ट 1935 के नाम से भी जाना जाता है जब लागू हुआ तो समाज के इस दबे कुचले वर्ग को एक छत के नीचे लाने की कोशिश की गयी जिसे सर्वप्रथम अनुसूचित जाति का नाम दिया गया। फिर समयानुसार समाज के ये निचले वर्ग अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन जाति पिछड़ा वर्ग अत्यंत पिछड़ा वर्ग में बँटते चले गए। आगे चलकर इन्हीं हरिजनों को बाबासाहेब डॉ. भीम राव अंबेडकर ने दलित कहा है और भारतीय संविधान में इनके लिए आरक्षण की व्यवस्था कर इन्हें मुख्य धारा का अंग बनाने की वकालत की है। मगर आजाद भारत के राजनैतिक गणित ने इस तबके को केवल वोट बैंक बना कर रख दिया और डॉ. अंबेडकर के ख्वाब को ख्वाब ही बना रहने दिया। समय के बदलते परिवेश में हरिजन तो

दलित बन गया, मगर जाति व्यवस्था में कोई खास बदलाव नहीं आया है। आज भी ऊंची जाति के लोग छोटी जाति के लोगों को निम्न और तुच्छ ही मानते हैं आज भी भारत के कई गाँव इस जाति प्रपंच में लिपटे हुए हैं। मुख्यतः यह जाति प्रथा कल भी और आज भी हिन्दू धर्म में ज्यादा देखने को मिलता है। स्वतंत्रता से पूर्व जात पात तोड़क मंडल नामक एक समिति गठन की गयी थी जिनका मुख्य उद्देश्य जाति व्यवस्था को खत्म कर हिन्दू जनजागरण कर सामाजिक बदलाव लाना था मगर राजनीतीकरण के कारण ये न उस वक्त संभव हो पाया, न ही आज कोई इसकी जहमत कर सकता है। आज भी बदलते वक्त और सात संग पे नदारद है और उम्मीद है अगले कुछ वर्षों तक ऐसी ही स्थिति रहेगी जब तक पे वोट बैंक बने रहेंगे।

दलित साहित्य की मुख्य धारा अम्बेडकरी विचारधार को अपना मूल मान कर चलती है किन्तु इसकी एनी धाराएं भी हैं जो जो अम्बेडकरी धारा से अलग है। सभी का उद्देश्य जाति का अंत ही नहीं है। कुछ जाति व्यवस्था को शास्वत मान कर चल रही है। अतः अम्बेडकरी धारा को मुख्या मोर्चे के साथ-साथ इन सब मोर्चों पर भी जूझना पड़ रहा है गैर-दलित धारा स्थापित साहित्यकारों व समीक्षकों के दलित साहित्य और लेखन पर विमर्श मात्र होने के आक्षेप का खंडन करते हुए दलित चिंतकों ने इतिहास के हवाले से अपनी चिंतन धारा और साहित्य को दलित समाज की वास्तविक अभिव्यक्ति माना है, दलित चिन्तक इतिहास को अधिनायकवादी चश्मे से देखे जाने का विरोध करते हैं। कँवल भारती जी कहते हैं कि— 'सवर्ण आलोचक आलोचना की दूसरी धारा चला सकते हैं तो हम तीसरी धारा क्यों नहीं चला सकते जो ब्राह्मणवादी और प्रगतिवादी दोनों ही आलोचना पद्धतियों से भिन्न होगी'

2. सामाजिक स्थिति

दलितों को पहले जहाँ अछूत कहकर बुलाया जाता था, वहीं आज के सरकारी आँकड़ों में उन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है। यह भारत की कुल आबादी का तकरीबन 16.6 प्रतिशत है आबादी के लिहाज से यह एक बड़ा वोट बैंक है और हर चुनाव में यह नानाप्रकार की पार्टियों के बीच का फुटबॉल बना रहता है।

यह आबादी आज भी अपने हक के लिए आंदोलन लड़ रही है। आजादी के बाद इस वर्ग को ऊपर उठाने और इनके हितों की रक्षा के लिए संविधान में आरक्षण और कानूनी संरक्षण की व्यवस्था की गयी थी मगर उनको अमल में लाना आज भी आधा अधूरा ही है। इनके लिए अनुसूचित जाति आदेश 1950 भी पारित किया तो गया, मगर अब तक ये कहीं न कहीं खड़ा दिखता सा प्रतीत होता है जब यह आदेश पारित हुआ तो समाज के निचले तबके के 1108 जातियों के नाम इनमें शामिल किये गए। मगर चुनावी फायदे के लिए आज तक इनमें छेड़छाड़ जारी है। चुनाव आयोग के अनुसार (लोकसभा चुनाव 2014), 543 संसदीय निर्वाचन क्षेत्रों में 84 सीटें अनुसूचित जाती तो 47 सीट अनुसूचित जनजाती के लिए आरक्षित थीं। सरकार का यह ध्यान जरूर रहा है कि इनके जीवन स्तर में बदलाव हो वो अपनी बात रख सके तिहाजा सीटें भी आरक्षित कर दी गईं। मगर परिवर्तन संतोषजनक नहीं है।

डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं कि—“वर्ण-जाति व्यवस्था का निषेध करने वाले बौद्ध परम्परा के संस्कृत महाकवि अश्वघोष ने वर्णादियों को उन्हीं की शब्दावली में समझाते हुए “वज्रसूची” में लिखा था— “यथैकवृक्षोत्पन्नानां फालानाम नास्ति वर्भेदस्थैक पुरुशोत्पन्नानाम पुरुषाणाम नास्तिवर्णभेदः... ..इसके बाद भी यदि कोई जातिवाद में विश्वास करता है तो बौद्ध परम्परा के दुसरे विद्वान धर्मकीर्ति के शब्दों में ‘नष्ट बुद्धि जड़ प्राणी’ कहा जाना चाहिए”³

जातिवादी हिंसा से जूझने का इतिहास काफी पुराना रहा है। बौद्ध परम्परा के बाद हमें भक्ति कालीन संत काव्य परम्परा में भी हमें जातिप्रथा विरोधी स्वर सुनाई देते हैं और उसीका परिणाम है कि डॉ. धर्मवीर ने कबीर पर केन्द्रित छः पुस्तकें लिखीं हैं। राजेंद्र सिंह कहते हैं कि षसिद्ध साहित्य की भाँती संत साहित्य के भी अनेक कवि दलित शूद्र और पिछड़ी जातियों से आए थे। इसी प्रकार डॉ. चमनलाल भी संत साहित्य के योगदान को दलित साहित्य के लिए महत्वपूर्ण बताते हुए लिखते हैं कि— ष्धाधुनिक दलित साहित्य की जड़ें कबीर और रविदास की वाणी में देखि जा सकती है सही मायनों में कबीर और रविदास हिंदी दलित साहित्य के अग्रदूत हैं किन्तु वो राजशाही तानाशाहियों का समय था। सभी शक्तिया सामंतों राजाओं के हाथों में केन्द्रित थीं सो उन्होंने अपने विरुद्ध

उठ रहे स्वर को चेतना रूप में स्थापित होने नहीं दिया. लेकिन सत्ता के विरोधों के बावजूद मे चेतना अंकुरित होती रही और भारत की अंग्रेजों से स्वतंत्रता के बाद संवैधानिक लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही ये अंकुर बढ़ कर एक छायादार वृक्ष बन चुका है.

इस सन्दर्भ में डॉ. ओमप्रकाश वाल्मीकि जी कहते हैं कि आदर्शवाद की महीन चुनावट में असमंजस की स्थितियां यथास्थितिवाद को ही पुख्ता करती हैं. ये आदर्शवादी स्थितियां हिंदी क्षेत्रों में किसी बड़े आन्दोलन को जन्म ना ले पाने के कारणों में से एक हैं.²

दलित साहित्य के माध्यम से जड़ हो चुकी असमानता के प्रति जताया जा रहा विद्रोह मात्र शोर-शराबे पर आधारित नहीं है, अपितु दलित साहित्यकारों और आलोचकों ने तर्कशीलता और गहन विश्लेषण के आधार पर दलित तबके के हक व अधिकार के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दिखाई है.

आलोचना कि ये जिम्मेदारी है कि वह टेक्स्ट के विविध आयामों की व्याख्या कर उसकी प्रासंगिकता के पक्ष-विपक्ष दोनों ही पहलुओं को पाठक के समक्ष रखे. आलोचना सदैव पाठक और पाठ के मध्य एक ऐसे सेतु का कार्य करती है जिसके द्वारा पाठक रचना के वास्तविक उद्देश्य के साथ ही रचना प्रक्रिया की परिस्थितियों को भी समझ सकता है, साहित्यिक क्षेत्र में भिन्न भाषा परिवेष एवं परिस्थितियों के निहितार्थ और मानक भी भिन्न होते हैं ऐसे में आलोचक कि जिम्मेदारी है कि वे मूल्यों के आधार पर गुण-दोष वर्णन करने की जगह रचना की मूलभूताता तक पहुंचने का प्रयास करें. इसी आवश्यकता के मद्देनजर साहित्य की विभिन्न विधाओं एवं लक्षणों के अनुसार ही आलोचना के भी विभिन्न आयाम विकसित हो रहे हैं

तमाम विरोधों के बावजूद हिंदी क्षेत्र में दलित साहित्य को एक नवीन साहित्यिक धारा के रूप में स्वीकृति मिल चुकी है. इस धारा के साहित्यकारों की रचना प्रक्रिया, रचना के तत्व, सौन्दर्यशास्त्र की प्रचलित मान्यताओं से बिल्कुल भिन्न हैं अतः दलित आलोचना के प्रतिमान भी परम्परा से भिन्न है दलित साहित्य के उदय से पूर्व हिंदी क्षेत्र में जो भी रचनाकार थे। भले ही वे जाति से दलित रहे हों) उनमें दलित चेतना का प्रायः अभाव था और वे पारम्परिक प्रतिमानों पर ही आधारित रचनाएँ कर रहे थे और उनके समीक्षात्मक मूल्य भी पारम्परिक थे. संस्कृत और पाश्चात्य दोनों ही आलोचनात्मक धाराएं निःसंदेह अत्यंत समृद्ध थीं इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि संस्कृत आलोचना के स्वर में कभी दलित चेतना को स्थान नहीं मिला और पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों में ऐसे किसी नुक्ते के होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि जातिवादी समस्या भारत की विशेष समस्या है. इसलिए दलित साहित्यकार और आलोचक इन दोनों ही परम्पराओं से भिन्न एक तीसरी परंपरा की बात करते हैं. किन्तु हिंदी क्षेत्र के गैर दलित लेखक व आलोचक इस बात को स्वीकार नहीं करते. उनका आरोप है कि दलित लेखन में दोहराव की स्थितियां है.

मगर मसला ये है कि दोहराव हो कि तिहाराव उसके बाद भी दलित साहित्य भारतीय जनता के एक बड़े हक और हुकूल की लड़ाई लड़ रहा है. रही बात दोहराव की तो एक वक्त के बाद हर तरह के साहित्य में ऐसी परिस्थितियां व ही जाति हैं. हर टार का साहित्य मोनोटोनस हो जाता है आदिकाल से अब तक किसी भी साहित्य को उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है. दलित साहित्य में तो अभी भी बहुत काम करने की जगह बाकी है अभी ये साहित्य बड़ी संभावनाएं लिए हुए है.

ऐतिहासिक दृष्ट से मूल्यांकन करें तो दलित वैचारिकी की विकासयात्रा साहित्य के क्षेत्र में उतनी ही प्राचीन है जितनी कि स्वयं मुख्यधारा या ब्राह्मणवादी धारा जाति प्रथा के उद्भव के साथ ही साहित्य और दर्शन दोनों ही क्षेत्रों में रचनाशीलता की लम्बी प्रक्रिया रही है. मगर सत्तासीन वर्ग ने कभी भी उसे जनसामान्य तक यथा रूप पहुंचने नहीं दिया और अपने करीत विद्वानों द्वारा उस विरोधी विचारधारा की व्याख्या अपने अनुरूप करवा ली.

3. दलित शिक्षा और दलित साहित्य

ऐसा नहीं है कि दलितों के स्थिति में कोई सुधार नहीं हुई है, मगर उनका स्थान आज भी शोध का विषय बना हुआ है। समाज के बदलते परिवेश में शिक्षा का आगमन भी इन दलितों के आँगन में हुआ और फलस्वरूप काबिल नौकरशाह से लेकर देश के पहले व्यक्ति बनने का गौरव भी दलित को प्राप्त हुआ है और के. आर. नारायणन के रूप में देश को पहला दलित राष्ट्रपति मिला। जैसे जैसे शिक्षा का प्रसार दलितों में होने लगा, वैसे वैसे इस तबके को बुद्धि भी प्रखर होने लगी। नतीजा यह है कि विकास के हर क्षेत्र में दलितों के योगदान से कोई कर नहीं सकता। दलित समुदाय ने जहाँ अच्छे दार्शनिक, लेखक, कवि दिए हैं, वहीं कटू आलोचक भी दिए हैं। मगर आज भी दलित साहित्य को लेकर कोई एक मत नहीं बन पाया है।

दलितों का वर्णन प्रेमचंद की कहानियों, उपन्यासों जैसे कि पूस की रात गोदान, आदि में भी हुआ है, फणीश्वरनाथ रेणु के आंचलिक उपन्यास में भी और बाबा नागार्जुन के हुंकार में भी मगर इनकी कृतियों को दलित साहित्य की संज्ञा देने में आज भी मतभेद है। दलित चिंतक मानते हैं कि दलितों का साहित्य का निर्माण केवल दलित ही कर सकते हैं। उनका मानना है कि स्वयंभोगी ही आपबीती अच्छे से लिख सकते हैं। इस तबके का मानना है कि दलितों के द्वारा दलितों के ऊपर लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है। इस प्रकार से अगर दलित साहित्य पर प्रकाश डाला जाए तो कहीं न कहीं यह बंधनों में बँधा है। फिर भी इनके रचनाकरों की कोई कमी नहीं है। धर्मवीर, तुलसी राम ओमप्रकाश वाल्मीकि बिहारी लाल हरित आदि दलित लेखकों को लोगों ने पढ़ा भी और उन्हें सराहा भी बदलते वक्त संग कई दलित साहित्य संघों का निर्माण हुआ जैसे महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ, मुंबई और हिंदी से बाहर भी निकलकर अन्य भाषाओं में दलित साहित्य अपने आधुनिक काल को प्राप्त हुई। आज भी हिंदी दलित साहित्य के अलावा मराठी दलित साहित्य मलयालम दलित साहित्य, कन्नड़ दलित साहित्य तेलुगु दलित साहित्य गुजराती दलित साहित्य आदि को पढ़ने वाले करोड़ों लोग हैं।

4. निष्कर्ष

भारत के बदलते परिवेश में भी दलितों का कोई खास उत्थान देखने को नहीं मिला है। आज भी आधी से अधिक आबादी समाज से वंचित सी प्रतीत होती है। जितनी भी संवैधानिक उपाय अब तक इस वर्ग के लोगों के लिए किए गए हैं, जमीनी स्तर पर कहीं न कहीं सूखी धरती पर बारिश के चंद बूंदों सी है। आरक्षण ने कुछ हद तक इनकी सामाजिक और आर्थिक उन्नति तो की है मगर वो भी कुछ तबकों के हाथों ही लिपटी हुई सी है। सत्ताधारी और विपक्ष दोनों पार्टियाँ समयानुसार इस वर्ग का इस्तेमाल करता आया है जिन्हें इनके जीवन स्तर को समाज के साथ सरोकार करना था वही वर्षों से इनकी आशाओं का दोहन करते आ रहे हैं। आज भी यह वर्ग बड़ी उम्मीद से चुनावों में वोट करता है, मगर चुनाव उपरांत उपेक्षित सा ही रहता है। आज भी दलितों पर हो रहे अन्याय की सूरत बढ़ती जा रही है। सरकार किसी की भी हो दलितों का शोषण जारी है। आज भी कई जगहों पर छुआछूत जारी है कठोर कानून होने के बावजूद इनके अत्याचार में कोई कमी नहीं आयी है। इसके दो प्रमुख कारण हैं इनकी शिक्षा और इनकी उपजातियों में विभाजन समग्र शिक्षा की कमी आज भी इन समुदायों के पीछड़ेपन का सबसे बड़ा कारण है। सुशिक्षा आज भी एक मुट्ठी भर लोगों के पास ही है। उपजातियों में इनका बँटना भी इनकी दयनीय स्थिति का कारण है। बटे होने के कारण कभी भी यह वर्ग खुलकर एक साथ किसी भी सामाजिक अत्याचार का विरोध नहीं कर पाया है। आज के बदलते परिवेश में इस वैवीकरण के युग में यह बहुत जरूरी है कि इनकी शिक्षा और रोजगार पर ज्यादा ध्यान दिया जाए जिससे कि इनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति में बदलाव आ सके। आज भी यह वर्ग सरकार पर अपनी जरूरतों के लिए काफी निर्भर है। इसलिए सरकार को इस तबके का ध्यान रखते हुए इन्हें आत्मनिर्भर बनाने पर बल देना चाहिए ताकि एक जाति मुक्त समाज का निर्माण हो सके। कल जब हम भारत की बात करें तो हमारा नया भारत सभी सामाजिक कुरीतियों से मुक्त हो।

5. संदर्भ

- भारतीय दलित आन्दोलन, सम्पादक मोहनदास नैमिषराय पृष्ठ सं. 12
- दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकी भूमिका
- दलित साहित्य एक अंतर यात्रा, बजरंग बिहारी तिवारी, पृष्ठ सं.1
- गुरु रविदास दलित साहित्य के अग्रदूत, चमन लाल, पृष्ठ सं.42
- दलित साहित्य व विमर्श के आलोचक कंवल भारती. पृष्ठ सं.2

- रामचंद्र वर्मा हिंदी मानक कोश, खंड-3
- अछूत कौन और कैसे डॉ. भीम राव अंबेडकर 1949
- भारत निर्वाचन आयोग ;
- आनंद तेलतुंबडे बीबीसी न्यूज 24 2018
- अनीहीलिएशन ऑफ कास्ट, डॉ. भीम राव अंबेडकर, 1936
- कॉस्टिट्यूशन (शेडयूल्ड कास्ट्स) आदेश, 1950, भारत का राजपत्र, अप्रैल 11, 1950.

